

जीव और पञ्च परमेष्ठी का स्वरूप

(१) प्रश्न—परमेष्ठी क्या वस्तु है ?

उत्तर—वह जीव है ।

(२) प्रश्न—क्या सभी जीव परमेष्ठी कहलाते हैं ।

उ०—नहीं ।

(३) प्र०—तब कौन कहलाते हैं ?

उ०—जो जीव परम में अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूप में—समभाव में छिन् अर्थात् स्थित हैं, वे ही परमेष्ठी कहलाते हैं ।

(४) प्र०—परमेष्ठी और उनसे भिन्न जीवों में क्या अन्तर है ?

उ०—अन्तर, आध्यात्मिक विकास होने न होने का है । अर्थात् जो आध्यात्मिक-विकास वाले व निर्मल आत्मशक्ति वाले हैं, वे परमेष्ठी और जो मलिन आत्मशक्ति वाले हैं वे उनसे भिन्न हैं ।

(५) प्र०—जो इस समय परमेष्ठी नहीं हैं, क्या वे भी साधनों द्वारा आत्मा को निर्मल बनाकर वैसे बन सकते हैं ?

उ०—अवश्य ।

(६) प्र०—तब तो जो परमेष्ठी नहीं हैं और जो हैं उनमें शक्ति की अपेक्षा से भेद क्या हुआ ?

उ०—कुछ भी नहीं । अन्तर सिर्फ शक्तियों के प्रकट होने न होने का है । एक में आत्म-शक्तियों का विशुद्ध रूप प्रकट हो गया है, दूसरों में नहीं ।

(७) प्र०—जब असलियत में सब जीव समान ही हैं तब उन सबका सामान्य स्वरूप (लक्षण) क्या है ?

उ०—रूप रस गन्ध स्पर्श आदि पौद्गलिक गुणों का न होना और चेतना का होना यह सब जीवों का सामान्य लक्षण^१ है ।

१ “अरसमरूवमगंधं, अब्धत्तं चेदणानुणमसद्धं जाण अलिगग्गहणं, जीव-पण्हिद्विद्वसंठाण ॥” प्रवचनसूत्र श्रेयतत्त्वाधिकार, गाथा ८० ।

अर्थात्—जो रस, रूप, गन्ध और शब्द से रहित हैं जो अव्यक्त—स्पर्श रहित है, अतएव जो लिङ्गों—इन्द्रियों से अप्राप्य है जिसके कोई संस्थान आकृति नहीं है ।

(८) प्र०—उक्त लक्षण तो अतीन्द्रिय—इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकने वाला है; फिर उसके द्वारा जीवों की पहिचान कैसे हो सकती है ?

उ०—निश्चय-दृष्टि से जीव अतीन्द्रिय हैं इसलिये उनका लक्षण अतीन्द्रिय होना ही चाहिए, क्योंकि लक्षण लक्ष्य से भिन्न नहीं होता। जब लक्ष्य अर्थात् जीव इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते, तब इनका लक्षण इन्द्रियों से न जाना जा सके, यह स्वाभाविक ही है।

(९) प्र० - जीव तो आँख आदि इन्द्रियों से जाने जा सकते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी कीड़े आदि जीवों को देखकर व छूकर हम जान सकते हैं कि यह कोई जीवधारी है। तथा किसी की आकृति आदि देखकर या भाषा सुनकर हम यह भी जान सकते हैं कि अमुक जीव सुखी, दुःखी, मूढ़, विद्वान्, प्रसन्न या नाराज है। फिर जीव अतीन्द्रिय कैसे ?

उ०—शुद्ध रूप अर्थात् स्वभाव की अपेक्षा से जीव अतीन्द्रिय है। अशुद्ध रूप अर्थात् विभाव की अपेक्षा से वह इन्द्रियगोचर भी है। अमूर्तत्व—रूप, रस आदि का अभाव या चेतनाशक्ति, यह जीव का स्वभाव है, और भाषा, आकृति, सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि जीव के विभाव अर्थात् कर्मजन्य पर्याय हैं। स्वभाव पुद्गल-निरपेक्ष होने के कारण अतीन्द्रिय है और विभाव, पुद्गल-सापेक्ष होने के कारण इन्द्रियग्राह्य हैं। इसलिये स्वाभाविक लक्षण की अपेक्षा से जीव को अतीन्द्रिय समझना चाहिए।

(१०) प्र०—अगर विभाव का संबन्ध जीव से है तो उसको लेकर भी जीव का लक्षण किया जाना चाहिए ?

उ०—किया ही है। पर वह लक्षण सब जीवों का नहीं होगा, सिर्फ संसारी जीवों का होगा। जैसे जिनमें सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि भाव हों या जो कर्म के कर्ता और कर्मफल के भोक्ता और शरीरधारी हों वे जीव हैं।

(११) प्र०—उक्त दोनों लक्षणों को स्पष्टतापूर्वक समझाइये।

उ०—प्रथम लक्षण स्वभावस्पर्शी है, इसलिए उसको निश्चय नय की अपेक्षा से तथा पूर्ण व स्थायी समझना चाहिये। दूसरा लक्षण विभावस्पर्शी है, इसलिए

१ “यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च । संस्मर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥”

अर्थात्—जो कर्मों का करनेवाला है, उनके फल का भोगने वाला है, संसार में भ्रमण करता है और मोक्ष को भी पा सकता है, वही जीव है। उसका अन्य लक्षण नहीं है।

उसको व्यवहार नय की अपेक्षा से तथा अपूर्ण व अस्थायी समझना चाहिए। सारांश यह है कि पहला लक्षण निश्चय-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनों काल में घटनेवाला है और दूसरा लक्षण व्यवहार-दृष्टि के अनुसार है, अतएव तीनों काल में नहीं घटनेवाला है। अर्थात् संसार दशा में पाया जानेवाला और मोक्ष दशा में नहीं पाया जाने वाला है।

(१२) प्र०—उक्त दो दृष्टि से दो लक्षण जैसे जैनदर्शन में किये गए हैं, क्या वैसे जैनेतर-दर्शनों में भी हैं ?

उ०—हाँ, 'साङ्ख्य, 'योग, 'वेदान्त आदि दर्शनों में आत्मा को चेतन-रूप या सच्चिदानन्दरूप कहा है सो निश्चय नय' की अपेक्षा से, और 'न्याय,

१ 'अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्व लक्षणो वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति।' —प्रवचनसार, अमृतचन्द्र—कृत टीका, गाथा ५३।

सारांश—जीवत्व निश्चय और व्यवहार इस तरह दो प्रकार का है। निश्चय जीवत्व अनन्त-ज्ञान-शक्तिस्वरूप होने से त्रिकाल-स्थायी है और व्यवहार-जीवत्व पौद्गलिक-प्राणसंसर्ग रूप होने से संसारावस्था तक ही रहने वाला है।

२ 'पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निलैपः किन्तु चेतनः।' —मुक्तावलि पृ० ३६।

अर्थात्—आत्मा कमलपत्र के समान निलैप किन्तु चेतन है।

३ तस्माच्च सत्त्वात्परिणामिनोऽत्यन्तविधर्मा विशुद्धोऽन्यश्चित्तात्ररूपः पुरुषः' पातञ्जल सूत्र, प.द ३, सूत्र ३५ भाष्य।

अर्थात्—पुरुष-आत्मा-चिन्मात्ररूप है और परिणामी सत्त्व से अत्यन्त विलक्षण तथा विशुद्ध है।

४ "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"—बृहदारण्यक ३।६।२८

अर्थात्—ब्रह्म-आत्मा-आनन्द तथा ज्ञानरूप है।

६ "निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।"

—पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ५

अर्थात्—तार्किक-दृष्टि को निश्चय-दृष्टि और उपचार-दृष्टि को व्यवहार दृष्टि कहते हैं।

५ "इच्छाद्वेषप्रयत्नमुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।"

—न्यायदर्शन १।१।१०

अर्थात्—१ इच्छा, २ द्वेष, ३ प्रयत्न, ४ मुख, ५ दुःख और ज्ञान, ये आत्मा के लक्षण हैं।

वैशेषिक आदि दर्शनों में सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, आदि आत्मा के लक्षण बतलाए हैं सो व्यवहार नय की अपेक्षा से ।

(१३) प्र०—क्या जीव और आत्मा इन दोनों शब्दों का मतलब एक है ?

उ०—हाँ, जैनशास्त्र में तो संसारी असंसारी सभी चेतनों के विषय में 'जीव और आत्मा', इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया गया है, पर वेदान्त^१ आदि दर्शनों में जीव का मतलब संसार-अवस्था वाले ही चेतन से है, मुक्तचेतन से नहीं, और आत्मा^२ शब्द तो साधारण है ।

(१४) प्र०—आपने तो जीव का स्वरूप कहा, पर कुछ विद्वानों को यह कहते सुना है कि आत्मा का स्वरूप अनिर्वचनीय अर्थात् वचनों से नहीं कहे जा सकने योग्य है, सो इसमें सत्य क्या है ?

उ०—उनका भी कथन युक्त है क्योंकि शब्दों के द्वारा परिमित भाव प्रगट किया जा सकता है । यदि जीव का वास्तविक स्वरूप पूर्णतया जानना हो तो वह अपरिमित होने के कारण शब्दों के द्वारा किसी तरह नहीं बताया जा सकता । इसलिए इस अपेक्षा से जीव का स्वरूप अनिर्वचनीय^३ है । इस बात को जैसे अन्य दर्शनों में 'निर्विकल्प'^४ शब्द से या

१ 'जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता ।'

-- ब्रह्मसूत्र भाष्य, पृष्ठ १०६, अ० १, पाद १, अ० ५, सू० ६ ।

अर्थात्—जीव वह चेतन है जो शरीर का स्वामी है और प्राणों को धारण करने वाला है ।

२ जैसे—'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिक

—बृहदारण्यक २।४।५ ।

३ 'यतो वाचो निवर्तन्ते, न यत्र मनसो गतिः ।

शुद्धानुभवसंवेद्यं, तद्रूपं परमात्मनः ॥' द्वितीय, श्लोक ४ ॥

४ "निरालम्बं निराकारं, निर्विकल्पं निरामयम् ।

आत्मनः परमं ज्योतिर्निरुपाधि निरञ्जनम् ॥" प्रथम, १ ।

'धावन्तोऽपि नया नैके, तत्स्वरूपं स्पृशन्ति न ।

समुद्रा इव कल्लोलैः, कृतप्रतिनिवृत्तयः ॥' द्वि०, ८ ॥

'शब्दोपरक्तद्रूपबोधकत्रयपद्धतिः ।

निर्विकल्पं तु तद्रूपं गम्यं नानुभवं विना ॥' द्वि०, ९ ॥

‘नेति’ शब्द कहा है वैसे ही जैनदर्शन में ‘सरा तत्थ निवत्तंते तक्का तत्थ न विज्झई’ [आचाराङ्ग ५ ६] इत्यादि शब्द से कहा है। यह अनिर्वचनीयत्व का कथन परम निश्चय नय से या परम शुद्ध द्रव्याधिक नय से समझना चाहिए। और हमने जो जीव का चेतना या अमूर्तत्व लक्षण कहा है सो निश्चय दृष्टि से या शुद्ध पर्यायार्थिक नय से।

(१५) प्र०—कुछ तो जीव का स्वरूप ध्यान में आया, अब यह कहिए कि वह किन तत्त्वों का बना है ?

उ०—वह स्वयं अनादि स्वतंत्र तत्त्व है, अन्य तत्त्वों से नहीं बना है।

(१६) प्र०—सुनने व पढ़ने में आता^२ है कि जीव एक रासायनिक वस्तु है, अर्थात् भौतिक मिश्रणों का परिणाम है, वह कोई स्वयं सिद्ध वस्तु नहीं है, वह उत्पन्न होता है और नष्ट भी। इसमें क्या सत्य है ?

उ०—जो सूक्ष्म विचार नहीं करते, जिनका मन विशुद्ध नहीं होता और जो भ्रान्त हैं, वे ऐसा कहते हैं। पर उनका ऐसा कथन भ्रान्तिमूलक है।

(१७) प्र०—भ्रान्तिमूलक क्यों ?

उ०—इसलिए कि ज्ञान, सुख, दुःख, हर्ष, शोक, आदि वृत्तियाँ, जो मन से संबन्ध रखती हैं; वे स्थूल या सूक्ष्म भौतिक वस्तुओं के आलम्बन से होती हैं,

‘अतद्व्यावृत्तितो भिन्नं, सिद्धान्ताः कथयन्ति तम् ।

वस्तुतस्तु न निर्वाच्यं, तस्य रूपं कथंचन ॥’ द्वि०, १६ ॥

—श्री यशोविजय—उपाध्याय-कृत परमव्योतिः पञ्चविंशतिका ।

‘अप्राप्यैव निवर्तन्ते, वचो धीमिः सहैव तु ।

निर्गुणत्वात्किभावाद्विशेषाणामभावतः ॥’

—श्रीशङ्कराचार्यकृत—उपदेशसाहस्री नान्यदन्यत्प्रकरणे श्लोक ३१ ।

अर्थात्—शुद्ध जीव निर्गुण, अक्रिय और अविशेष होने से न बुद्धिग्राह्य है और न वचन-प्रतिपाद्य है।

१ ‘स एष नेति नेत्यात्माऽग्राह्यो न हि गृह्यतेऽशीयो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्नोसीति होवाच याज्ञवल्क्यः।’

—बृहदारण्यक, अध्याय ४, ब्राह्मण २, सूत्र ४ ।

२ देखो—चार्वाक दर्शन [सर्वदर्शनसंग्रह पृ० १] तथा आधुनिक भौतिकवादी ‘हेगल’ आदि विद्वानों के विचार प्रो० ध्रुव-रचित आरण्यो धर्म पृष्ठ ३२५ से आगे।

भौतिक वस्तुएँ उन वृत्तियों के होने में साधनमात्र अर्थात् निमित्तकारण^१ हैं, उपादानकारण^२ नहीं। उनका उपादानकारण आत्मा तत्त्व अलग ही है। इसलिए भौतिक वस्तुओं को उक्त वृत्तियों का उपादानकारण मानना भ्रान्ति है।

(१८) प्र०—ऐसा क्यों माना जाय ?

उ०—ऐसा न मानने में अनेक दोष आते हैं। जैसे सुख, दुःख, राज-रंक भाव, छोटी-बड़ी आयु, सत्कार-तिरस्कार, ज्ञान-अज्ञान आदि अनेक विरुद्ध भाव एक ही माता-पिता की दो सन्तानों में पाए जाते हैं, सो जीव को स्वतन्त्र तत्त्व बिना माने किसी तरह असन्दिग्ध रीति से घट नहीं सकता।

(१९) प्र०—इस समय विज्ञान प्रबल प्रमाण समझा जाता है, इसलिए यह बतलावें कि क्या कोई ऐसे भी वैज्ञानिक हैं। जो विज्ञान के आधार पर जीव को स्वतन्त्र तत्त्व मानते हों ?

उ०—हाँ उदाहरणार्थ^३ सर 'ओलीवरलाज' जो यूरोप के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं और कलकत्ते के 'जगदीशन्द्र वसु, जो कि संसार भर में प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। उनके प्रयोग व कथनों से स्वतन्त्र चेतन तत्त्व तथा पुनर्जन्म आदि की सिद्धि में सन्देह नहीं रहता। अमेरिका आदि में और भी ऐसे अनेक विद्वान् हैं, जिन्होंने परलोकगत आत्माओं के संबन्ध में बहुत कुछ जानने लायक खोज^४ की है।

(२०) प्र०—जीव के अस्तित्व के विषय में अपने को किस सबूत पर भरोसा करना चाहिए ?

उ०—अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक चिरकाल तक आत्मा का ही मनन करने वाले निःस्वार्थ ऋषियों के वचन पर, तथा स्वानुभव पर।

(२१) प्र०—ऐसा अनुभव किस तरह प्राप्त हो सकता है ?

उ०—चित्त को शुद्ध करके एकाग्रतापूर्वक विचार व मनन करने से।

१ जो कार्य से भिन्न होकर उसका कारण बनता है वह निमित्तकारण कहलाता है। जैसे कपड़े का निमित्तकारण पुतलीधर।

२ जो स्वयं ही कार्यरूप में परिणत होता है वह उस कार्य का उपादानकारण कहलाता है। जैसे कपड़े का उपादानकारण सूत।

३ देखो—आत्मानन्द-जैन-पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगरा द्वारा प्रकाशित हिन्दी प्रथम 'कर्मग्रन्थ' की प्रस्तावना पृ० ३८ ॥

४ देखो—हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बंबई द्वारा प्रकाशित 'छायादर्शन'।

(२२) प्र०—जीव तथा परमेष्ठी का सामान्य स्वरूप तो कुछ मुन लिया । अब कहिए कि क्या सब परमेष्ठी एक ही प्रकार के हैं या उनमें कुछ अन्तर भी है ?

उ०—सब एक प्रकार के नहीं होते । स्थूल दृष्टि से उनके पाँच प्रकार हैं अर्थात् उनमें आपस में कुछ अन्तर होता है ।

(२३) प्र०—वे पाँच प्रकार कौन हैं ? और उनमें अन्तर क्या है ?

उ०—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच प्रकार हैं । स्थूलरूप से इनका अन्तर जानने के लिए इनके दो विभाग करने चाहिए । पहले विभाग में प्रथम दो और दूसरे विभाग में पिछले तीन परमेष्ठी सम्मिलित हैं । क्योंकि अरिहन्त सिद्ध ये दो तो ज्ञान दर्शन-चारित्र-वीर्यादि शक्तियों को शुद्ध रूप में पूरे तौर से विकसित किये हुए होते हैं । पर आचार्यादि तीन उक्त शक्तियों को पूर्णतया प्रकट किए हुए नहीं होते किन्तु उनको प्रकट करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं । अरिहन्त सिद्ध ये दोही केवल पूज्य अवस्था को प्राप्त हैं, पूजक अवस्था को नहीं । इसीसे ये देवतत्व माने जाते हैं । इसके विपरीत आचार्य आदि तीन पूज्य, पूजक, इन दोनों अवस्थाओं को प्राप्त हैं । वे अपने से नीचे की श्रेणि वालों के पूज्य और ऊपर की श्रेणिवालों के पूजक हैं । इसी से 'गुरु' तत्व माने जाते हैं ।

(२४) प्र०—अरिहन्त तथा सिद्ध का आपस में क्या अन्तर है ? इसी तरह आचार्य आदि तीनों का भी आपस में क्या अन्तर है ?

उ०—सिद्ध, शरीररहित अतएव पौद्गलिक सब पर्यायों से परे होते हैं । पर अरिहन्त ऐसे नहीं होते । उनके शरीर होता है, इसलिए मोह, अज्ञान आदि नष्ट हो जाने पर भी ये चलने, फिरने, बोलने आदि शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाएँ करते रहते हैं ।

सारांश यह है कि ज्ञान-चरित्र आदि शक्तियों के विकास की पूर्णता अरिहन्त सिद्ध दोनों में बराबर होती है । पर सिद्ध, योग (शारीरिक आदि क्रिया) रहित और अरिहन्त योगसहित होते हैं । जो पहिले अरिहन्त होते हैं वे ही शरीर त्यागने के बाद सिद्ध कहलाते हैं । इसी तरह आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में साधु के गुण सामान्य रीति से समान होने पर भी साधु की अपेक्षा उपाध्याय और आचार्य में विशेषता होती है । वह यह कि उपाध्यायपद के लिए सूत्र तथा अर्थ का वास्तविक ज्ञान, पढ़ाने की शक्ति, वचन-मधुरता और चर्चा करने का सामर्थ्य आदि कुछ खास गुण प्राप्त करना जरूरी है, पर साधुपद के लिए इन गुणों की कोई खास जरूरत नहीं है । इसी तरह आचार्यपद के लिए शासन

चलाने की शक्ति, गच्छ के हिताहित की जवाबदेही, अति गम्भीरता और देश-काल का विशेष ज्ञान आदि गुण चाहिए। साधुपद के लिए इन गुणों को प्राप्त करना कोई खास जरूरी नहीं है। साधुपद के लिये जो सत्सङ्ग गुण जरूरी हैं वे तो आचार्य और उपाध्याय में भी होते हैं, पर इनके अलावा उपाध्याय में पच्चीस और आचार्य में छतीस गुण होने चाहिए अर्थात् साधुपद की अपेक्षा उपाध्यायपद का महत्व अधिक और उपाध्यायपद की अपेक्षा आचार्यपद का महत्व अधिक है।

(२५) सिद्ध तो परोक्ष हैं, पर अरिहन्त शरीरधारी होने के कारण प्रत्यक्ष हैं इसलिए यह जानना जरूरी है कि जैसे हम लोगों की अपेक्षा अरिहन्त की ज्ञान आदि आन्तरिक शक्तियाँ अलौकिक होती हैं वैसे ही उनकी बाह्य अवस्था में भी क्या हम से कुछ विशेषता हो जाती है ?

उ०—अवश्य। भीतरी शक्तियाँ परिपूर्ण हो जाने के कारण अरिहन्त का प्रभाव इतना अलौकिक बन जाता है कि साधारण लोग इस पर विश्वास भी नहीं कर सकते। अरिहन्त का सारा व्यवहार लोकोत्तर^१ होता है। मनुष्य, पशु पक्षी आदि भिन्न-भिन्न जाति के जीव अरिहन्त के उपदेश को अपनी-अपनी भाषा^२ में समझ लेते हैं। साँप, न्यौला, चूहा, बिल्ली, गाय, बाघ आदि जन्म-शत्रु प्राणी भी समवसरण में वैर द्वेष-वृत्ति छोड़कर^३ भ्रातृभाव धारण करते हैं। अरिहन्त के वचन में जो पैंतीस^४ गुण होते हैं वे औरों के वचन में नहीं होते। जहाँ अरिहन्त विराजमान होते हैं वहाँ मनुष्य आदि की कौन कहे, करोड़ों देव हाजिर होते, हाथ जोड़े खड़े रहते, भक्ति करते और अशोकवृक्ष आदि आठ

१ 'लोकोत्तरचमत्कारकरी तव भवस्थितिः ।

यतो नाहारनीद्वारौ, गोचरौ चर्मचक्षुषाम् ॥'

—वीतरागस्तोत्र, द्वितीय प्रकाश, श्लोक ८ ।

अर्थात्—हे भगवन् ! तुम्हारी रहन-सहन आश्चर्यकारक अतएव लोकोत्तर है, क्योंकि न तो आपका आहार देखने में आता और न नीहार (पाखाना) ।

२ 'तेषामेव स्वस्वभाषापरिणाममनोहरम् ।

अप्येकरूपं वचनं यत्ते धर्मावबोधकृत् ॥'

—वीतराग स्तोत्र, तृतीय प्रकाश, श्लोक ३ ।

३ 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।' —पातञ्जल योगसूत्र ३५-३६ ।

४ देखो—'जैनतत्त्वादर्श' पृ० २ ।

प्रातिहार्यों^१ की रचना करते हैं। यह सब अरिहन्त के परम योग की विभूति^२ है।

(२६) अरिहन्त के निकट देवों का आना, उनके द्वारा समवसरण का रचा जाना, जन्म-शत्रु जन्तुओं का आपस में वैर-विरोध त्याग कर समवसरण में उपस्थित होना, चौंतीस अतिशयों का होना, इत्यादि जो अरिहन्त की विभूति कही जाती है, उस पर यकायक विश्वास कैसे करना? ऐसा मानने में क्या युक्ति है?

उ०—अपने को जो बातें असम्भव सी मालूम होती हैं वे परमयोगियों के लिए साधारण हैं। एक जंगली भील को चक्रवर्ती की सम्पत्ति का थोड़ा भी ख्याल नहीं आ सकता। हमारी और योगियों की योग्यता में ही बड़ा फर्क है। हम विषय के दास, लालच के पुतले और अस्थिरता के केन्द्र हैं। इसके विपरीत योगियों के सामने विषयों का आकर्षण कोई चीज नहीं; लालच उनको छूता तक नहीं; वे स्थिरता में सुमेरु के समान होते हैं। हम थोड़ी देर के लिए भी मन को सर्वथा स्थिर नहीं रख सकते; किसी के कठोर वाक्य को सुन कर मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं; मामूली चीज गुम हो जाने पर हमारे प्राण निकलने लग जाते हैं; स्वार्थान्धता से औरों की कौन कहे भाई और पिता तक भी हमारे लिये शत्रु बन जाते हैं। परम योगी इन सब दोषों से सर्वथा अलग होते हैं। जय उनकी आन्तरिक दशा इतनी उच्च हो तब उक्त प्रकार की लोकोत्तर स्थिति होने में कोई अचरज नहीं। साधारण योगसमाधि करने वाले महात्माओं की और उच्च चरित्र वाले साधारण लोगों की भी महिमा जितनी देखी जाती है उस पर विचार करने से अरिहन्त जैसे परम योगी की लोकोत्तर विभूति में संदेह नहीं रहता।

(२७) प्र०—व्यवहार (बाह्य) तथा निश्चय (आभ्यन्तर) दोनों दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप किस-किस प्रकार का है?

उ०—उक्त दोनों दृष्टि से सिद्ध के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। उनके लिये जो निश्चय है वही व्यवहार है, क्योंकि सिद्ध अवस्था में निश्चय व्यवहार की एकता हो जाती है। पर अरिहन्त के संबन्ध में यह बात नहीं है। अरिहन्त सशरीर होते हैं इसलिए उनका व्यावहारिक स्वरूप तो बाह्य विभूतियों से संबन्ध रखता है और नैश्चयिक स्वरूप आन्तरिक शक्तियों के विकास से। इसलिए निश्चय दृष्टि से अरिहन्त और सिद्ध का स्वरूप समान समझना चाहिए।

(२८) प्र०—उक्त दोनों दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय तथा साधु का स्वरूप किस-किस प्रकार का है?

१ 'अशोकवृद्धः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वरानाम् ॥'

२ देखो—'बीतरागस्तोत्र' एवं पातञ्जलयोगसूत्र का विभूतिपाद।'

उ०—निश्चय दृष्टि से तीनों का स्वरूप एक-सा होता है। तीनों में मोक्षमार्ग के आराधन की तत्परता और बाह्य-आभ्यन्तर-निर्ग्रन्थता आदि नैश्वरिक और पारमार्थिक स्वरूप समान होता है। पर व्यावहारिक स्वरूप तीनों का थोड़ा-बहुत भिन्न होता है। आचार्य की व्यावहारिक योग्यता सबसे अधिक होती है। क्योंकि उन्हें गच्छ पर शासन करने तथा जैन शासन की महिमा को सम्हालने की जवाबदेही लेनी पड़ती है। उपाध्याय को आचार्यपद के योग्य बनने के लिये कुछ विशेष गुण प्राप्त करने पड़ते हैं जो सामान्य साधुओं में नहीं भी होते।

(२६) परमेष्ठियों का विचार तो हुआ। अब यह बतलाइए कि उनको नमस्कार किसलिए किया जाता है ?

उ०—गुणप्राप्ति के लिए। वे गुणवान् हैं, गुणवानों को नमस्कार करने से गुण की प्राप्ति अवश्य होती है क्योंकि जैसा ध्येय हो ध्याता वैसा ही बन जाता है। दिन-रात चोर और चोरी की भावना करने वाला मनुष्य कभी प्रामाणिक (साहूकार) नहीं बन सकता। इसी तरह विद्या और विद्वान् की भावना करने वाला अवश्य कुछ-न-कुछ विद्या प्राप्त कर लेता है।

(३०) नमस्कार क्या चीज है ?

उ०—बड़ों के प्रति ऐसा बर्ताव करना कि जिससे उनके प्रति अपनी लज्जता तथा उनका बहुमान प्रकट हो, वही नमस्कार है।

(३१) क्या सब अवस्था में नमस्कार का स्वरूप एक-सा ही होता है ?

उ०—नहीं। इसके द्वैत और अद्वैत, ऐसे दो भेद हैं। विशिष्ट स्थिरता प्राप्त न होने से जिस नमस्कार में ऐसा भाव हो कि मैं उपासना करनेवाला हूँ और अमुक मेरी उपासना का पात्र है, वह द्वैतनमस्कार है। रागद्वेष के विकल्प नष्ट हो जाने पर चित्त की इतनी अधिक स्थिरता हो जाती है कि जिसमें आत्मा अपने को ही अपना उपास्य समझता है और केवल स्वरूप का ही ध्यान करता है, वह अद्वैत-नमस्कार है।

(३२) प्र०—उक्त दोनों में से कौन सा नमस्कार श्रेष्ठ है ?

उ०—अद्वैत। क्योंकि द्वैत-नमस्कार तो अद्वैत का साधनमात्र है।

(३३) प्र०—मनुष्य की बाह्य-प्रवृत्ति, किसी अन्तरङ्ग भाव से प्रेरी हुई होती है। तो फिर इस नमस्कार का प्रेरक, मनुष्य का अन्तरङ्ग भाव क्या है ?

उ०—भक्ति।

प्र०—उसके कितने भेद हैं ?

उ०—दो। एक सिद्ध-भक्ति और दूसरी योगि-भक्ति। सिद्धों के अनन्त गुणों

की भावना भाना सिद्ध-भक्ति है और योगियों (मुनियों) के गुणों की भावना भाना योगि-भक्ति ।

(३५) प्र०—पहिले अरिहन्तों को और पीछे सिद्धादिकों को नमस्कार करने का क्या सचव है ?

उ०—वस्तु को प्रतिपादन करने के क्रम दो होते हैं । एक पूर्वानुपूर्वी और दूसरा पश्चानुपूर्वी । प्रधान के बाद अप्रधान का कथन करना पूर्वानुपूर्वी है और अप्रधान के बाद प्रधान का कथन करना पश्चानुपूर्वी है । पाँचों परमेष्ठियों में 'सिद्ध' सबसे प्रधान हैं और 'साधु' सबसे अप्रधान, क्योंकि सिद्ध-अवस्था चैतन्य-शक्ति के विकास की आखिरी हद्द है और साधु-अवस्था उसके साधन करने की प्रथम भूमिका है । इसलिए यहाँ पूर्वानुपूर्वी क्रम से नमस्कार किया गया है ।

(३६) प्र०—अगर पाँच परमेष्ठियों की नमस्कार पूर्वानुपूर्वी क्रम से किया गया है तो पहिले सिद्धों को नमस्कार किया जाना चाहिए, अरिहन्तों को कैसे ?

उ०—यद्यपि कर्म-विनाश की अपेक्षा से 'अरिहन्तों' से सिद्ध श्रेष्ठ हैं । तो भी कृतकृत्यता की अपेक्षा से दोनों समान ही हैं और व्यवहार की अपेक्षा से तो 'सिद्ध' से 'अरिहन्त' ही श्रेष्ठ हैं । क्योंकि 'सिद्धों' के परोक्ष स्वरूप को बतलाने वाले 'अरिहन्त' ही तो हैं । इसलिए व्यवहार-अपेक्षा 'अरिहन्तों' को श्रेष्ठ गिनकर पहिले उनको नमस्कार किया गया है ।

ई० १६२१]

[पंचप्रतिक्रमण]